• श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः •

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ।

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल वंचनकर ।

वर्ष १३ { गौराब्द ४८१, मास— वामन २५, वार—संकर्षण
सोमवार, ३२ आषाढ़, सम्वत् २०२४, १७ जुलाई, १९६७ } संख्या २

श्रीश्रीव्रजविलास-स्तवः

[श्रीरघुनाथदास-गोस्वामि-पाद-प्रणीता]

[गतांकसे आगे]

गन्धव्याकुल-भृङ्गसङ्घ चमू संघुष्टपुष्पोत्करै-
र्भाजत्कल्पलता-पलाशि-निकरैर्विभ्राजितानि स्फुटम् ।
यानि स्फार-तड़ाग-पर्वत-नदीवृन्देन राजन्त्यहो
कृष्णप्रेष्ठवनानि तानि नितरां वन्दे मुहुर्द्वादश ॥९८॥

मधुर-सुगन्धसे उन्मत्त हुई भ्रमरोंकी सेना जिनके पुष्पोंपर सर्वदा मंडरा रही है, इस प्रकार सुशोभित कल्पलताओं और वृक्षोंके द्वारा जिनकी परम शोभा हो रही है, जो कमल पुष्प जैसे आकारवाले बड़े-बड़े पर्वतों एवं नदियोंसे अतिशय शोभाको प्राप्त हो रहे हैं, श्रीकृष्णके प्रियतम उन द्वादश वनोंकी मैं बारम्बार वन्दना कर रहा हूँ ॥९८॥

पूर्णः प्रेमरसैः सदा मुररिपोर्दासः सखा च प्रियं
स्वप्राणार्बुदतोऽपि तत्पदयुगं हित्वेहमासान् दश।
प्रीत्या यो निवसंस्तदीय-कथया गोष्ठं मुहुर्जीवय-
त्यायातं किल पश्य कृष्णमिति तं मूर्ध्ना वहाम्युद्धवम् ॥६६॥

जो श्रीकृष्णके सेवक और प्रिय सखा हैं, जो सर्वदा प्रेम-रससे परिपूर्ण हैं तथा जिन्होंने अपने करोड़ों प्राणोंसे भी परम प्रिय श्रीकृष्णके चरण-युगलको त्याग कर व्रज में निवास कर 'श्रीकृष्ण मथुरासे आ ही रहे हैं, उनका दर्शन करो'—ऐसी सान्त्वनापूर्ण उक्तियोंद्वारा विरह कातरा व्रजवासियोंको दस माह तक केवल श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंसे ही जीवित रखा, उन श्रीउद्धवजीको हम मस्तक पर धारण कर उनकी वन्दना करते हैं ॥६६॥

मुदा यत्र ब्रह्मा तृणनिकर गुल्मादिषु परं
सदा कांक्षन् जन्मार्पित-विविधकर्माप्यनुदिनम्।
क्रमाद् ये तत्रैव व्रजभुवि वसन्ति प्रियजना
मया ते ते वन्द्याः परम विनयात् पुण्यखचिता ॥१००॥

श्रीकृष्णने जिनपर जगत्की सृष्टिका भार दे रखा है, उन ब्रह्माजीने भी सृष्टि आदि कार्योंमें अतिशत व्यस्त रहने पर भी जिस वृन्दावनमें तृण और गुल्म आदि योनियोंमें जन्म-ग्रहण करनेकी तीव्र आकांक्षा की थी, उसी वृन्दावनमें जन्म लेकर जो प्रियजन वहाँ नित्य निवास कर रहे हैं, मैं क्रमानुसार उन सबकी बड़ी नम्रतापूर्वक वन्दना करता हूँ। वे सभी परम वन्दनीय और महान पुण्यशाली हैं ॥१००॥

पुरा प्रेमोद्रेकैः प्रतिपद-नवानन्द-मधुरैः
कृत श्रीगान्धर्वाच्युतचरणवर्यार्चन-बलात्।
निकामं स्वामिन्याः प्रियतमसरस्तीरभुवने
वसन्ति स्फीता ये त इह मम जीवातव इमे ॥१०१॥

श्रीराधा-गोविन्दके श्रीचरणकमलोंकी श्रेष्ठ उपासनाके प्रभावसे क्षण-क्षणमें नवनवायमान आनन्दमें विभोर होकर सुमधुर-प्रेमोद्रेकसे युक्त होकर जो प्रेमीजन श्रीमती राधिकाके प्रिय सरोवर श्रीराधाकुण्डके तट पर अति पूर्वकालसे निवास कर रहे हैं, वे राधाकुण्डवासी महात्मागण मेरे जीवनाधार हैं ॥१०१॥

यत् किञ्चित्तृणगुल्मकीकटमुखं गोष्ठे समस्तं हि तत्-
सर्वानन्दमयं मुकुन्ददयितं लीलानुकूलं परम् ।
शास्त्रैरेव मुहुर्मुहुः स्फुटमिदं निष्टङ्कितं याञ्चया
ब्रह्मादेरपि सस्पृहेण तदिदं सर्वं मया वन्द्यते ॥१०२॥

गोष्ठमें तृण-गुल्म और कीट-पतंग आदि जो कुछ भी हैं, वे सभी सर्वानन्द-स्वरूप मुकुन्दके प्रिय और उनकी लीलाके अनुकूल हैं। सभी शास्त्रोंमें बारम्बार इस तथ्यका प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्मासे लेकर उद्धव तक सबने ही सुस्पष्ट रूपसे उनके रूपमें (तृण आदि होकर) व्रजमें जन्म ग्रहणकी अभिलाषा व्यक्त की है, मैं उन सबकी बन्दना करता हूँ ॥१०२॥

भ्रमन् कच्छे-कच्छे क्षितिधरपतेर्वक्रिमगतै-
र्लपन् राधे कृष्णेत्यनवरतमुन्मत्तवदहम् ।
पतन् क्वापि क्वाप्युच्छलितनयनद्वन्द्व-सलिलैः
कदा केलिस्थानं सकलमपि सिञ्चामि विकलः ? ॥१०३॥

अहो ! कब मेरा ऐसा सौभाग्य उदित होगा, जब मैं श्रीगिरिराज गोवर्द्धनकी तरहटीमें इतस्ततः दौड़ता हुआ उन्मत्तकी भाँति निरन्तर 'हे राधे, हे कृष्ण'—ऐसा पुकारता हुआ मूर्च्छित होकर गिर पड़ूँगा और अपने उच्छलित नेत्रोंसे निरन्तर प्रवाहित होती हुई अश्रुधारासे श्रीश्रीराधाकृष्णकी क्रीड़ा स्थलियोंका सिंचन करूँगा ? ॥१०३॥

न ब्रह्मा न च नारदो न हि हरो न प्रेमभक्तोत्तमाः
सम्यग् ज्ञातुमिहाञ्जसार्हन्ति तथा यस्योच्छलन्माधुरीम् ।
किन्त्वेको बलदेव एव परितः सार्द्धं स्वमात्रा स्फुटं
प्रेम्नाऽप्युद्धव एव वेत्ति नितरां किं स व्रजो वर्ण्यते ॥१०४॥

जिसकी उच्छलित माधुरीको न तो ब्रह्मा, न शिव, न नारद और न तो अन्यान्य उत्तम प्रेमी भक्तजन ही भलीभाँति जाननेमें समर्थ हैं, परन्तु एकमात्र श्रीबलदेवजी, उनकी जननी श्रीमती रोहिणी देवी तथा प्रेममें उन्मत्त श्रीउद्धवजी ही सर्व प्रकारसे जानते हैं, उस वृन्दावनका वर्णन भला मैं कैसे कर सकता हूँ ॥१०४॥

अन्यत्र क्षणमात्रमच्युतपुरे-प्रेमामृताम्भोनिधि-

स्नातोऽप्यच्युतसज्जनैरपि समं नाहं वसामि क्वचित् ।

किन्त्वत्र व्रजवासिनामपि समं येनापि केनाप्यलं

संलापैर्मम निर्भरः प्रतिमुहुर्वासोऽस्तु नित्यं मम ॥१०५॥

किसी भी दूसरे भगवद्धाममें भगवद्भक्तोंके साथ प्रेमामृतसागरमें निमज्जित होता हुआ भी क्षणभरके लिये भी वहाँ वास नहीं करना चाहता, परन्तु जैसे-तैसे प्रेम-शून्य व्रजवासियोंके साथ वृथालाप करता हुआ भी इसी व्रजमें मेरा प्रीतिपूर्वक प्रतिक्षण वास हो अर्थात् क्षणभरके लिये भी व्रजसे दूर न होऊँ ॥१०५॥

रागेण रूपमञ्जर्या रक्तीकृत-मुरद्विषः ।

गुणाराधित-राधायाः पदयुग्मे रतिर्मम ॥१०६॥

श्रीरूपमञ्जरीने अनुरागवशतः श्रीकृष्णको जिसके प्रति अनुरक्त करा दिया है, वैदग्धादि गुणोंके द्वारा आराधिता उस राधिकाके श्रीचरणकमलोंमें मेरी सदा रति हो ॥१०६॥

इमं नियतमादराद् व्रजविलास-नाम स्तवं

सदा व्रजजनोल्लसन्मधुर-माधुरी-वन्धुरम् ।

मुहुः कुतुकसम्भृताः परिपठन्ति ये वल्गु तत्

समं परिकरैर्द्वंद्वं मिथुनमत्र पश्यन्ति ते ॥१०७॥

॥ इति श्रीश्रीव्रजविलासस्तवः समाप्तः ॥

जो व्यक्ति परम कौतुहलसे निरन्तर आदरपूर्वक इस 'व्रज-विलास' नामक स्तवका—जो व्रजजनोंकी उल्लसित मधुर-माधुरीसे सुन्दर है, बारबार पाठ करते हैं, वे मनोहर परिकरोंके साथ उन युगल जोड़ीका दर्शन करेंगे ॥१०७॥

॥ अनुवाद समाप्त ॥

———

श्रीधर-स्वामीपाद और मायावाद

साम्प्रदायिक इतिहासका अध्ययन और अनुसन्धान करनेसे यही ज्ञात होता है कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन सम्प्रदाय है। विष्णुस्वामी सम्प्रदायके प्रथम परम्परामें 'श्रीदेवतनु' विष्णुस्वामीका नाम दृष्टिगोचर होता है। प्रथम परम्परा के विष्णुस्वामियोंमें श्रीनृसिंहोपासना की प्रधानता थी, इतिहाससे ऐसा विदित होता है। श्रीवल्लभाचार्यजीका कहना है कि उस समय भारतमें विष्णुस्वामियोंने गोपालकी उपासना ही प्रचलित थी। सर्वदर्शन संग्रहकार सायन-माधवने रसेश्वर दर्शनमें विष्णुस्वामीका अति अल्प मात्रामें उल्लेख किया है। उसमें उन्होंने श्रीविष्णुस्वामीको नृसिंहोपासक ही बतलाया है। 'वल्लभदिग्विजय' और अन्यान्य साम्प्रदायिक इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि विष्णुस्वामीगण दश-नामी और अष्टोत्तरशत-नामी त्रिदण्डि-वैष्णव-संन्यासी थे।

द्वितीय परम्पराके विष्णुस्वामियोंमें हम 'श्रीराजगोपाल' विष्णुस्वामीका उल्लेख देख पाते हैं। उन्होने द्वारकामें श्रीरणछोड़जीका विग्रह स्थापित किया था। वल्लभाचार्यके अनुगत लोगोंने परवर्त्ति-समयमें आन्ध्र-विष्णुस्वामीके अभ्युदयका उल्लेख किया है।

मध्यवर्त्ती युगमें श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायके अनुगत श्रीधर स्वामिपादको मर्यादा-मार्गकी दृष्टिसे श्रीनृसिंहोपासकके रूपमें ही जाना जाता है। श्रीकृष्णोपासना भी उनके हृदयमें प्रबल रूपमें विद्यमान थी।

किसी-किसीके मतानुसार श्रीधर स्वामिपाद केवलाद्वैतवादी थे। श्रीवल्लभाचार्य भी ऐसा ही समझते हैं। लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व में 'दीपिका दीपन' के लेखकने अपने समयमें वृन्दावन-मथुरा आदि स्थानोंमें वल्लभीय-चिन्ता धाराका प्राबल्य देखकर और उनसे प्रभावित होकर श्रीधर-स्वामीपादको केवलाद्वैतवादी माना था; किन्तु नाभादास लिखित 'भक्तमाल' और दूसरे-दूसरे साम्प्रदायिक इतिहास तथा श्रीधरजीकी उक्तियाँ और विचारसमूहको सूक्ष्म दृष्टि द्वारा निरपेक्ष रूपसे आलोचना करने पर ऐसी धारणा सर्वथा निराधार और विपरीत प्रमाणित होती है।

(१) श्रीधर स्वामीपाद कदापि केवलाद्वैतवादी नहीं हो सकते। वे शुद्धाद्वैतवादी वैष्णव थे। शुद्धाद्वैतवादके मतानुसार वस्तुका अंश—जीव है, वस्तु की शक्ति—माया है और वस्तुका कार्य—जगत् है। इसलिए जीव, माया और मायिक जगत् आदि सभी कुछ वस्तु वाच्य हैं। भागवतके प्रथम स्कंदके द्वितीय श्लोकमें 'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्' इस चरणकी टीकामें श्रीधर स्वामीपादने कहा है—'वास्तव शब्देन वस्तुनो अंशो जीवो, वस्तुनः शक्तिर्माया च, वस्तुनः कार्यंजगच्च

तत् सर्वं वस्त्वेव, न ततः पृथक् ।" इस वाक्यद्वारा यह जाना जाता है कि वे कदापि केवलाद्वैतवादी नहीं थे। निर्विशेष केवलाद्वैतवादी कदापि जीवकी वास्तव सत्ता, तत्त्ववस्तु अर्थात् ब्रह्मको शक्ति और वस्तुके कार्य संसारकी सत्यता स्वीकार नहीं करते। केवलाद्वैतवादी मायाको अवस्तु, वस्तुको निर्विशेष जीव और ब्रह्मको त्रिविधभेदरहित एक, जगत्को असत्य, तथा जैवज्ञानको अज्ञान कल्पित होनेसे मिथ्या ही मानते हैं।

(२) श्रीधरस्वामीने श्रीमद्भागवतको स्वकृत 'भावार्थ-दीपिका' नामक टीकामें किसी दूसरे आचार्य का नाम उल्लेख न कर केवल मात्र विष्णुस्वामीका ही उल्लेख किया है। श्रीमद्भागवतके १।७।६ श्लोकको टीकामें "तदुक्तं विष्णुस्वामिना— 'ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाविद्या संवृतो जीवः संक्लेश निकराकरः ॥' तथा 'स ईशो यद्वशे माया, स जीवो यस्तयार्दितः। स्वाविर्भूत परानन्दः स्वाविर्भूत सुखदुःखभूः ॥ स्वादृगुत्थ विपर्यास भवभेदज-भीशुचः यन्मायया जुषन्नास्ते तमिमं नृहरिं नुमः ।" एवं ३।१२।२ श्लोककी टीका में 'श्रीविष्णुस्वामोप्रोक्ता वा' आदि श्रीविष्णुस्वामी के वाक्यका उल्लेख रहनेसे श्रीधरस्वामीपाद के अनुगत और ह्लादिनी संविदाश्लिष्ट सच्चिदानन्द मायाधीश श्रीनृसिंहके उपासक शुद्धाद्वैतवादी थे, यह स्पष्ट प्रमाणित होता है।

(३) नाभादासजी कृत 'श्रीभक्तमाल' ग्रन्थसे यह जाना जाता है कि विष्णुस्वामीके परमानन्द नामक एक अधस्तन थे। पारम्पर्य क्रमसे यही परमानन्द श्रीधरस्वामीपादके गुरु थे। श्रीधरस्वामी पादने श्रीमद्भागवतको टीकाके प्रारम्भकी मङ्गलाचरणमें "यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द–माधवम्" इस श्लोकमें भगवदभिन्न गुरुदेवकी वन्दना की है।

(४) मायावादी लोग पञ्चोपासनाका अवलम्बन कर नृपञ्चास्यके बदलेमें पञ्चोपास्यके अन्यतम रुद्र की उपासना स्वोकार कर अन्तमें निर्विशेष-प्राप्ति को ही 'साध्य' समझते हैं। किन्तु श्रीधरस्वामीजी के भागवतीय टीकाकी मङ्गलाचरणसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि उन्होंने ऐसे निर्विशेष मायावादी का विचार अवलम्बन न कर श्रीरुद्र सम्प्रदायभुक्त होकर परमधाम, जगद्धाम, दशमतत्त्व आश्रिताश्रय विग्रह श्रीकृष्णको एवं श्रीनारायणके विलास-विग्रह सदाशिवको परस्पर–आलिङ्गित विग्रहके रूपमें वन्दना की है—

'माधवोमाधवावीशौ सर्वसिद्धिविधायिनौ।
वन्दे परस्परात्मानौ परस्पर–नतिप्रियौ ॥"

(५) उक्त मङ्गलाचरणके प्रथम श्लोकमें भी 'नृसिंहमहं भजे' इस वाक्य द्वारा श्रीधरस्वामीजी श्रीनृसिंहोपासक थे, यह स्पष्ट जाना जाता है।

(६) श्रीधरस्वामीके गुरु भ्राताका नाम था— श्रीलक्ष्मीधर स्वामी। यही लक्ष्मीधरजी 'श्रीनाम-कौमुदी' ग्रन्थके लेखक हैं। श्रीधरस्वामीजीने भी श्रीनामके अप्राकृतत्त्व और नित्यत्वके सम्बन्धसे कई श्लोकोंकी रचना की है। श्रील रूप गोस्वामीजी ने 'पद्यावली' में उसका अधिकांश भाग संग्रह किया है। इन सारे श्लोकोंकी आलोचना करने पर भी

यह देखा जाता है कि श्रीधरस्वामीपाद कदापि निर्विशेष केवलाद्वैतवादी या मायावादी नहीं हो सकते। क्योंकि निर्विशेष केवलाद्वैतवादी कदापि श्रीभगवान एवं उनके नाम, रूप, गुण और लीलाका अभेद, चिन्मयत्व और नित्यत्व स्वीकार नहीं करते। सायनमाधवके 'रसेश्वर दर्शन' पाठ करनेसे यह जाना जाता है कि श्रीविष्णुस्वामीपादने श्रीनृसिंह-देवके नित्य अभिन्न नामरूपादिको स्वीकार किया है। इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं है कि श्रीधर-स्वामीपाद विष्णुस्वामी मतावलम्बी शुद्धाद्वैतवादी त्रिदण्डि-वैष्णव संन्यासी थे।

(७) श्रीधरस्वामीपाद यदि केवलाद्वैतवादी या मायावादी होते तो श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीवल्लभ-भट्टजीको शासन करते हुए श्रीधरस्वामीपादको 'जगद्गुरु' के रूपमें स्वीकार करने एवं श्रीधरस्वामी के अनुगत होकर भागवतकी व्याख्या करनेके लिए श्रीवल्लभाचार्यको तथा जगज्जीवको शिक्षा नहीं देते। श्रीधरस्वामीपाद यदि केवलाद्वैतवादी होते, तो श्रील जीव गोस्वामीपाद भी उन्हें "भक्त्येक रक्षक" कहकर नहीं पुकारते। श्रीमन्महाप्रभु, श्रीजीव गोस्वामीजी और वैष्णवाचार्यों ने निर्विशेष मायावादियोंको "भक्ति-रक्षक" कहनेके बदलेमें "भक्तिके सर्वनाशकारी" कहा है। वैष्णवाचार्यों के किसी भी ग्रन्थका पाठ करनेसे इसका ठोस प्रमाण पाया जा सकता है।

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(गृहस्थ-वैष्णव)

१—सद् गृहस्थ कौन हैं? किनके गृहमें शुद्ध-वैष्णव प्रसाद ग्रहण करेंगे?

"सद्गृहस्थ वे हैं—जो प्रतिदिन एक लाख हरि नाम ग्रहण करते हैं उनके गृहमें ही शुद्ध वैष्णव प्रसाद ग्रहण करेंगे।"

—'साधुवृत्ति', स. तो. ११।१२

२—गृहत्यागी और गृहस्थका साधारण अधि-कार क्या है?

"जो व्यक्ति विषयरागसे पूर्ण हैं, वे कदापि उपस्थवेग सह नहीं सकते। इसलिए वे अनेक प्रकार के अवैध कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। इस प्रवृत्तिके सम्बन्ध से दो प्रकारके भजन-पिपासु देखे जाते हैं। साधु सङ्गके प्रभावसे जिनकी रति शुद्ध हो गयी है, वे स्त्रीसङ्गका सर्वदा परित्याग कर भजन करते हैं, वे 'गृहत्यागी' वैष्णव हैं। जिनकी स्त्रीसङ्ग प्रवृत्ति दूर नहीं हुई है वे विवाह विधि द्वारा 'गृहस्थ' रहकर भगवद्भजन करते हैं।"

—'धैर्य' स. तो. ११।५

३—गृहस्थ वैष्णवका पत्नी और सन्तानादिके प्रति कैसा आचरण होना चाहिये?

"विवाहिता स्त्रीको वैष्णव-धर्ममें दीक्षित कर उसे जहाँ तक सम्भव हो वैष्णव तत्त्वकी शिक्षा देनी चाहिए । ❀❀❀ वैष्णवी पत्नीके द्वारा वैष्णव जगत्को समृद्ध करनेसे बहिर्मुखी प्रवृत्तिकी आलोचना नहीं होती । तदनन्तर उस वैष्णव पत्नी से जो सन्तान उत्पन्न हों, उन्हें भगवद्दास समझना चाहिए ।"

४—क्या षडवेग-दमनका उपदेश गृहस्थोंके लिए नहीं है ?

"षड्वेगको दमन करनेवाले आत्मानुगत व्यक्ति ही पृथ्वीको जय कर सकते हैं । यह वेग दमनका उपदेश केवल गृहस्थ भक्तोंके लिए है । क्योंकि गृहत्यागीके लिए पराकाष्ठारूप सम्पूर्ण वेगादि-वर्जन गृहत्यागके पूर्व ही सिद्ध हुआ होता है ।"

—पी. प. वृ. १ म श्लोक

५—साधारण गृहस्थ वैष्णवोंके जीवन निर्वाह विधि क्या है ?

"साधारण गृहस्थ-वैष्णव सर्वदा निष्पाप चरित्रयुक्त होकर न्यायपूर्वक अर्थका उपार्जन करके कृष्णका संसार निर्वाह करेंगे ।"

—'वैरागी वैष्णवोंका चरित्र विशेषतः निर्मल होना चाहिए,' स. तो. ५।१०

६—गृहस्थोंका सबसे श्रेष्ठ सद्व्यय कैसे हो सकता है ?

"जिनका वेतन अधिक होता है और जो राजा के मूलधनके द्वारा कुछ विशेष उद्वृत्त धन पाते हैं, संसार यात्रा निर्वाह होनेके पश्चात् उनका कुछ-कुछ संचय होता है । संचित अर्थ सत्कर्ममें व्यय करना उचित है । मद्य-माँस भोजन, असत् नाट्यादि दर्शन, वृथा मुकद्दमा, असत् पात्रको दान आदि कई प्रकारके असत् व्यय हैं । जो श्रीचैतन्य महाप्रभुके दास होने की इच्छा रखते हैं, वे संचित अर्थके द्वारा असद्-व्यय न कर सद्व्यय करेंगे । अतिथिसेवा, दुःखी लोगोंको अन्न-दान, पीड़ितोंको औषध और पथ्य दान, विद्यार्थियोंको विद्या दान, दरिद्र लोगोंको कन्यादि ऋणसे मुक्त करना—ये सद्व्यय हैं । परन्तु इन सद्व्ययोंसे भी बढ़कर एक और सद्व्यय है । वह सद्व्यय श्रीभगवत्सेवा और श्रीभागवत-सेवामें होता है। ❀❀ प्रभुकी दैनन्दिन सेवाके लिये समस्त गृहस्थ वैष्णवोंको अपने संचित अर्थमेंसे कुछ-कुछ देना कर्त्तव्य है ।"

—'गृहस्थ वैष्णवोंकी जीवनवृत्ति,' स. तो. ७।२

७—गृहस्थोंको अतिथि-सेवा क्यों करना चाहिए ?

"आतिथ्य एक प्रधान धर्म है । जिस देशमें आतिथ्य नहीं है, वह देश मरुभूमिकी तरह परित्याज्य है । साधारण गृहस्थोंमें जिनका आतिथ्य नहीं है, उनका वृथा जीवन है—प्रातःकालमें उनका नाम नहीं लिया जाता । इसलिये वे पापिष्ठोंमें अग्रगण्य हैं । आतिथ्य ही गृहस्थका प्रधान धर्म है । गृहस्थों द्वारा जो सब अनिवार्य पाप होते हैं, वे आतिथ्य द्वारा दूर होते हैं ।"

—'वैष्णव-गृहस्थोंका आतिथ्य' स. तो. ८।१२

८—साधारण अतिथि और वैष्णव-अतिथि की सेवामें तारतम्य रखना क्या गृहस्थ वैष्णवोंके लिए उचित है ?

"गृहस्थ-भक्त अतिथिको देखते ही यह विचार करते हैं कि वह अतिथि साधारण अतिथि है या वैष्णव-अतिथि है । यदि वैष्णव-अतिथि हों तो उन्हें अपने भ्रातासे भी अधिक स्नेह कर उनकी सेवा करते हैं और उनके साथ भक्तिकी उन्नतिका साधन करते हैं। यदि अतिथि साधारण हुआ तो साधारण आतिथ्यके अनुसार उस अतिथिका यथायोग्य सम्मान और यथासाध्य उसकी सेवा करते हैं। ऐसा व्यवहार ही गृहस्थ वैष्णवका व्यवहार है।"

—'वैष्णव गृहस्थका आतिथ्य' स. तो. ८।१८

९—गृहस्थका प्रधान कार्य क्या है ?

"भक्त-सेवा ही गृहस्थका प्रधान कार्य है।"

—'साधुवृत्ति' स. तो. ११।१२

१०—गृहस्थ किस विषयमें विशेषरूपसे यत्नशील रहेंगे ?

"साधुसङ्गमें गृहस्थ-वैष्णवोंका विशेष यत्न होना चाहिए।"

—'साधुवृत्ति' स तो. ११।१२

११—वैष्णव गृहस्थ किस आदर्शका अनुसरण करेंगे ? उनके लिये अन्याभिलाष एकान्तरूपसे क्यों परित्याज्य है ?

"महाप्रभु और महाप्रभुके पार्षदोंके गृहस्थ-चरित्रको देखकर गृहस्थ वैष्णवोंको अपना चरित्र गठन करना चाहिए। जीवनयात्रा और जीवनोपाय संग्रह करनेके लिये महाप्रभु और महाप्रभुके भक्तोंने जो आदर्श दिखलाये हैं, वही गृहस्थ भक्तोंके लिए अनुकरणीय है। कृष्ण सेवाके लिये जो कार्य किये जाते हैं, वे ही ठीक हैं। अवान्तर फल कामना और इन्द्रिय-तृप्तिके लिए जो कार्य किये जाते हैं, उसीसे संसारी होना पड़ता है।"

—'साधुवृत्ति,' स. तो. ११।१२

१२—गृहस्थ वैष्णवोंके अन्यान्य क्या कृत्य हैं ?

"गृहस्थ-वैष्णव तुलसीजीका सम्मान करेंगे।"

—'साधुवृत्ति' स. तो. ११।१२

१३—अधिक संचय करना गृहस्थ वैष्णवोंके लिये अनुचित क्यों है ?

"जिससे भक्तिका उचित रूपमें निर्वाह हो, उतना ही गृहस्थ वैष्णवोंको संचय करनेकी आवश्यकता है। उससे अधिक संचय करना अत्याहार है। भजन-प्रयासी व्यक्ति विषयी लोगोंकी तरह वैसा अत्याहार न करेंगे।"

—'पा व.वृ. २य श्लोक

१४—भोजन और वस्त्रके लिए विशेष प्रयास करना क्या गृहस्थ वंष्णवोंके लिये उचित नहीं है ?

"भोजन और वस्त्रके लिए जो कुछ अनायास ही मिल जाय, उसीसे गृहस्थ वैष्णवोंको सन्तोष कर लेना चाहिए।"

—साधुवृत्ति' स. तो. ११।१२

१५—किस प्रकारके वैष्णवोंको लेकर गृहस्थ-वैष्णव महोत्सव करेंगे ?

"वैष्णवको सम्मान करेंगे, वैष्णवतर और वैष्णवतमका चरणाश्रय ग्रहण करेंगे। ऐसे वैष्णवों को लेकर ही गृहस्थ वैष्णव महोत्सब करेंगे।"

—श्रीम. शि. १० म प.

१६—गृहस्थ किस विषयमें विशेष सावधान रहेंगे ?

"वैष्णवोंके प्रति अपराध न हो, इस विषयमें वे विशेष सावधान रहेंगे।"

—'साधुवृत्ति' स. तो. ११।१२

१७—भक्तोंके लिये 'गृहत्यागी' होना उचित है कि 'गृहस्थ ?'

"भक्तोंके लिये गृहस्थीमें रहना या गृह-त्याग करना एक ही बात है।"

—'साधुवृत्ति' स. तो. ११।१२

१८—गृहस्थ अवस्था क्या है ? क्या चिरकाल इसकी रक्षा करनी चाहिए ?

"गृहस्थ अवस्था जीवके आत्म-तत्त्वको उदित करने और शिक्षा लेनेके लिए एक प्रकारकी पाठशाला है। शिक्षा समाप्त होने पर पाठशालाको छोड़ा जा सकता है।"

—'जै. ध. ७ म अ.

१९—क्या गृहस्थ वैष्णव दूसरोंको भेक अथवा संन्यासका वेश प्रदान कर सकते हैं ?

"गृहत्यागी वैष्णवोंके निकट ही वेषाश्रम ग्रहण करना चाहिये। गृहस्थभक्तमें गृहत्यागीके व्यवहार के आस्वादनका अभाव होता है। अतएव वे किसी को भी वेषाश्रम न देंगे।"

—जै. ध. ७ म अ.

— जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

सन्दर्भ-सार

(श्रीकृष्ण-सन्दर्भ–१७)

भगवद्धाम

शम-दमादियुक्त सुकृतिशाली कर्मी स्वर्गलोकमें जाते हैं, ब्राह्म-तपस्या युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं, किन्तु गोलोककी प्राप्ति बहुत कठिन है। प्रेमी भक्त श्रीहरिमें अभिनिविष्टचित्त होकर वैकुण्ठ-लोकमें अप्राकृत गति प्राप्त करते हैं। गौओं का तथा गोपगोपियोंका बसतिस्थान होनेके कारण यह स्थान गोलोक कहलाता है। केवल रागानुगमार्गसे ही व्रजकी प्राप्ति हो सकती है।

सर्वोपरि विराजित श्रीकृष्णलोकको छोड़कर पृथिवीमें स्थित गोकुल-मथुरा-द्वारका आदि धाम भी स्वरूपत: प्रपञ्चातीत धामकी तरह हैं। वे सभी प्रपञ्चातीत नित्य अलौकिक रूप हैं और भगवानकी नित्य विहार भूमि है।

बराह पुराणमें कहा गया है—

भूर्भुवः-स्वस्तलेनापि न पातालतलेऽमलम्।
नोर्द्ध्वलोके मया दृष्टं तादृक् क्षेत्रं वसुन्धरे॥

श्रीवराहदेव कहते हैं–हेवसुन्धरे ! भूर्भुवःस्वः–इन तीनों लोकोंमें एवं पाताल और उर्द्धलोकमें कहीं भी मथुराकी तरह निर्मल क्षेत्र मैंने नहीं देखा। 'अहोऽतिधन्या मथुरा यत्र सन्निहितो हरिः।' यह मथुरा अति धन्या हैं क्योंकि यहाँ सर्वदा ही श्रीहरि का निवास है । यह मथुरा केवल उपासना-स्थान मात्र नहीं है अर्थात् भक्त यहाँ भगवानकी उपासना कर सिद्धिके पश्चात् अन्यत्र जाकर भगवानको प्राप्त करेंगे, ऐसी बात नहीं है । यहीं पर ही (पृथिवीमें स्थिति मथुरामें ही) श्रीकृष्ण नित्य विराजमान हैं। पद्मपुराणमें भी ऐसा ही कहा गया है—"अहो मधुपुरी धन्या यत्र तिष्ठति कंसहा।" गोपाल तापनी उपनिषद्में कहा गया है—"स होवाचा तं हि नारायणो देवः सकाम्या मेरोः शृङ्गे यथा सप्तपुर्यो भवति तथा सकाम्या निष्काम्याश्च भूगोलचक्रे सप्तपुर्यो भवन्ति तासां मध्ये साक्षात् ब्रह्मगोपाल-पुरी इति।"

श्रीनारायणजीने ब्रह्मासे कहा––हे विधाता ! जिस प्रकार सुमेरु शृङ्गमें कामफलदा सप्तपुरी विद्यमान हैं, उसी प्रकार भूमण्डलमें भोगदा और मोक्षदा अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्ती, और द्वारका—ये सप्तपुरियाँ हैं । उसमें गोपालपुरी मथुरा साक्षात् ब्रह्मस्वरूपा हैं । यह मथुरा सुदर्शन चक्र द्वारा रक्षित है और प्रापञ्चिक दोषोंसे दूषित नहीं होती । बृहद्वन्, मधुवन, तालवन, काम्यवन, बहुलावन, कुमुदवन, खदिरवन, भद्रवन, भाण्डीरवन, श्रीवन, लौहवन, और वृन्दावन-इन द्वादश वनों द्वारा मथुरा आवृत है ।

श्रीवृन्दावनका तत्त्व श्रीमथुरामण्डलके तत्त्वादि द्वारा ही सिद्ध है । देवर्षि नारदने भगवान कृष्णसे प्रश्न किया था—

किमिदं द्वादशाख्यकं वृन्दारण्यं विशाम्पते ।
श्रोतुमिच्छामि भगवन् यदि योग्योऽस्मि मे वद॥

अर्थात् हे गोपपते ! इस द्वादशवनात्मक वृन्दावन का क्या तत्त्व है ? मैं यदि श्रवण करने योग्य हूँ, तो कृपा कर वर्णन करें । श्रीकृष्णने उत्तर दिया था—

इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैककेवलम् ।
अत्र ये पशवः पक्षि वृक्षा कीटा नरामराः ॥
ये वसन्ति ममाधिष्ण्ये मृते यान्ति ममालयम्।
अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये ।
योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणाः।
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् ।
कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी ॥
अत्र देवाश्च भूतानि वर्त्तन्ते सूक्ष्मरूपतः ॥
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित् ।
आविर्भावस्तिरोभावो भवेदत्र युगे युगे ।
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा ॥

यह रमणीय वृन्दावन केवल मेरा ही धाम है । पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट, नर, अमर आदि जो भी मेरे धाममें वास करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् मेरे नित्य धाममें प्रवेश करते हैं । मेरी निवास भूमि वृन्दावन में जो सभी गोपकन्याएँ वास करती हैं वे सभी योगिनी (मुझमें संयोगदाप्त) और नित्य मेरी सेवापरायणा हैं । यह पञ्चयोजन परिमित स्थान मेरा देह-स्वरूप है । परमामृतवाहिनी कालिन्दी

सुषुम्ना नामसे प्रसिद्धा हैं। यहाँ देवता और भूतगण सूक्ष्मरूपसे वास करते हैं। सर्वदेवमय मैं कदापि इस स्थान का त्याग नहीं करता। इस स्थानमें युग युगमें मेरा आविर्भाव तिरोभाव होता है। यह रम्य वृन्दावन तेजोमय हैं और जड़ नेत्रों द्वारा अदृश्य हैं।

विशेषत: यह प्रसिद्ध है कि ऐसे अलौकिकरूप-युक्त भगवानके नित्य धामके दिव्य कदम्ब अशोकादि वृक्ष आज भी महाभागवतोंके दृष्टिगोचर होते हैं।

वराहपुराणमें कालीय ह्रद माहात्म्यमें—

अत्रापि महदाश्चर्यं पश्यन्ते पण्डिता नराः।
कालीयह्रदपूर्वेण कदम्बो महितो द्रुमः ॥
शतशाखं विशालाक्षि पुण्यं सुरभि-गन्धि च।
स च द्वादशमासानि मनोज्ञः शुभशीतलः।
पुष्पायति विशालाक्षि प्रभासन्ते दिशो दश ॥

श्रीवराहदेव धरणीदेवीसे कहते हैं—हे विशालाक्षि ! पण्डित व्यक्ति इस स्थानमें कालीय ह्रदके पूर्व भागमें सर्वलोक-पूजित, पवित्र, सद्गन्धयुक्त शतशाखायुक्त कदम्ब वृक्षका महाश्चर्यके साथ दर्शन करते हैं। यह कदम्ब वृक्ष बारह महीनों में ही शुभ शीतल पुष्पयुक्त है। उसकी ज्योतिसे दशों दिशाएँ प्रकाशित होती हैं।

वराहपुराणमें ब्रह्मकुण्ड माहात्म्यमें भगवान कहते हैं—

तत्राश्चर्यं प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वं वसुन्धरे।
लभन्ते मनुजाः सिद्धिं मम कर्मपरायणाः ॥
तस्य तत्रोत्तरे पार्श्वेऽशोकवृक्षः सितप्रभः।
वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशी ॥
स पुष्पति च मध्याह्ने मम भक्तिसुखावहः।
न कश्चिदपि जानाति बिना भागवतं शुचिम् ॥

अर्थात् हे वसुन्धरे ! ब्रह्मकुण्डके विषयमें जो आश्चर्य संवाद कह रहा हूँ, उसे श्रवण करो। इस स्थानका आश्रय ग्रहण कर जो सभी मनुष्य सत्कर्म-परायण होते हैं, अर्थात् भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, वे स्थान प्रभावसे शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। उस ब्रह्मकुण्डके उत्तरपार्श्वमें एक श्वेतवर्ण अशोक वृक्ष है। वैशाख मास के शुक्ला द्वादशी के मध्याह्न-कालमें वह वृक्ष सुखप्रद पुष्प प्रदान करता है। शुचि भगवद्भक्तोंको छोड़कर और कोई इस बातको नहीं जानता। 'शुचि' अर्थात् भगवानको छोड़कर और दूसरे विषयमें अनुसन्धानरहित व्यक्ति। वे ही उस वृक्षको देख पाते हैं। इससे यह जाना जाता है कि पृथिवी देवी भी इस तत्त्वको नहीं जानतीं।

वृन्दावनके अन्य तीर्थोंके बारेमें वराहपुराणमें कहा गया है—

कृष्णक्रीड़ा सेतुबन्धं महापातक-नाशनम्।
बलभीः तत्र क्रीड़ार्थं कृत्वा देवो गदाधरः ॥
गोपकैः सहितस्तत्र क्षणमेकं दिने-दिने।
तत्रैव रमणार्थं हि नित्यकालं स गच्छति ॥

श्रीकृष्ण-क्रीड़ा सेतुबन्ध महापापको नाश करने वाला है। वहाँ पर बलभी अर्थात् तृण द्वारा गृह निर्माण कर सब समय विहार करनेके लिए वे गोपियोंके साथ गमन करते हैं। यहाँ 'विहार

और 'गच्छति' इन दोनों शब्दोंमें वर्त्तमानकालका प्रयोग होनेके कारण वहाँ नित्य स्थिति प्रमाणित होती है। स्कन्द पुराणमें भी कहा गया है—

ततो वृन्दावनं पुण्यं वृन्दादेवी समाश्रितम्।
हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादि सेवितम्॥

अतएव पुण्यमय वृन्दावन वृन्दादेवी द्वारा समाश्रित है, श्रीहरिका अधिष्ठान है और ब्रह्मा-शिवादि के द्वारा परिसेवित है।

श्रुतिमें भी कहा गया है—

"गोविन्दं सच्चिदानन्द विग्रहं वृन्दावन सुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं तोषयामि इति।" श्रीगोपालतापनीमें ब्रह्मा जी कहते हैं—वृन्दावन में कल्पवृक्षके नीचे अवस्थित सच्चिदानन्द विग्रह श्रीगोविन्दको मैं मरुद्गणोंके साथ परिचर्या द्वारा सन्तुष्ट करता हूँ।

पद्म-पुराणके पातालखण्डमें कहते हैं—"यमुनाजल कल्लोले सदा क्रीड़ति माधवः।"

यमुना जल कल्लोलमें माधव सर्वदा क्रीड़ा करते हैं। यमुनाका जल कल्लोल जिसमें हैं, ऐसे वृन्दावनमें माधव नित्य क्रीड़ा करते हैं। तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समासमें अजहल्लक्षण स्वीकार कर यमुनातीर और जल दोनों को ही भगवानका क्रीड़ास्थान जानना चाहिए।

इन सभी प्रमाणोंद्वारा भौम वृन्दावनमें श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति जानी जाती है। छान्दोग्यके ७।२४।१ मंत्रमें—स भगवान कस्मिन् प्रतिष्ठितः? स्वे महिम्नि इति। अर्थात् वह भूमाख्य हरि कहाँ अवस्थित हैं? वे अपनी विभूतिमें अधिष्ठित हैं। गोपालतापनीमें—साक्षात् ब्रह्मगोपालपुरी होति। अर्थात् गोपालपुरी साक्षात् ब्रह्म है।

बृहद्गौतमीय तंत्रमें—तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा। यह श्रीकृष्ण धाम तेजोमय, रमणीय और जड़ नेत्रों द्वारा अदृश्य है।

भगवद्धामसमूह नित्य चिन्मय हैं, इसके सम्बन्ध में ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें कहते हैं—

छत्राकरान्तु किं ज्योतिर्जलादूर्द्ध्वं प्रकाशते।
निमग्नायां धरायान्तु न वै मज्जति तत्कथम्॥
किमेतच्छाश्वतं ब्रह्म वेदान्तशत-रूपितम्।
ताप भयार्त्ता दग्धानां जीवनं छत्रतां गतम्॥
दर्शनादेव वाश्याय कृतार्थाः स्मो जगद्गुरो।
बारं-बारं तवात्यत्र दृष्टिलंग्ना जनार्दन।
परमाश्चर्य-रूपोऽपि साश्चर्यं इह पश्यसि॥

भगवानका उत्तर—

छत्राकारं परं ज्योतिर्दृश्यते गगने वरम्।
तत्परं परमं ज्योतिः काशीति प्रथितं क्षितौ॥
रत्नं सुवर्णखचितं यथा भवेत्तथा पृथिव्यां खचिता हि काशिका।
न काशिका भूमिमयी कदाचित् ततो न मज्जेन्मम सद्गतिर्यतः।
जड़ेषु सर्वेष्वपि मज्जमानेष्वियं चिदानन्दमयी न मज्जेत्॥

मुनियोंने भगवान् विष्णु से प्रश्न किया—हे भगवन् ! जलके ऊपर यह छत्राकार ज्योतिःस्वरूपसे क्या प्रकाश पा रहा है ? सारी पृथिवी जलमग्न होने पर भी वह क्यों जलमग्न नहीं हुआ ? यह क्या वेदान्तशत-निरूपित शाश्वत ब्रह्म है ? अथवा तापत्रयदग्ध जीवोंका जीवन छत्ररूपताको प्राप्त हुआ है ? हे जगद्‌गुरो ! हम ज्योतिःस्वरूप इस वस्तुका दर्शन कर कृतार्थ हुए हैं । हे जनार्दन ! आपकी दृष्टि बारम्बार इस ज्योतिरूप छत्रमें क्यों लगी हुई है ? आप स्वयं परमाश्चर्य स्वरूप होकर भी विस्मित की तरह उसे क्यों दर्शन कर रहे हैं ?

भगवान विष्णुने उत्तर दिया—आप लोग जिस छत्राकार गगनबिहारी परम ज्योतिका दर्शन कर रहे हैं, वह पृथिवीमें काशी नामसे प्रसिद्ध है । जिस प्रकार सोनेमें रत्न जड़ित होता है, उसी प्रकार पृथिवीमें यह काशी जड़ित है । वह कदापि भूमिमय नहीं है अर्थात् जड़ नहीं है । इसलिए वह जलमग्न नहीं होता । यह मेरी सद्‌गति है अर्थात् मैं वहां नित्य निवास करता हूँ । सभी जड़वस्तुओंके निमज्जित होने पर भी चिन्मय काशी निमज्जित न होगी ।

ब्रह्मवैवर्त्तमें कहा गया है—

चेतना जड़योरैक्यं यद्वन्नैकस्थयोरपि ।
तथा काशी ब्रह्मरूपा जड़ा पृथ्वी च सङ्गता ।।
निर्माणन्तु जड़स्यात्र क्रियते न परात्मनः ।
उद्धरिष्यामि च महीं बाराहं रूपमास्थितः ।।
तदा पुनः पृथिव्यां हि काशी स्थास्यति मत्प्रिया ।।

एक देहमें जड़-चेतनके रहने पर भी जिस प्रकार चेतन जड़धर्मसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मरूपा काशी एवं जड़रूपा पृथिवी मिलित रहने पर भी काशी पार्थिव जड़धर्म द्वारा निर्लिप्त है । जिस प्रकार जड़की उत्पत्ति है, किन्तु जड़में अधिष्ठित परमात्मा की उत्पत्ति नहीं है, उसी प्रकार पृथिवी के उत्पत्ति होने पर भी काशीकी उत्पत्ति नहीं है । मैं बराह रूप प्रकट कर जब पृथिवीका उद्धार करूँगा, उस समय पुनः मेरी प्रिया काशी पृथिवीमें स्थिति प्राप्त करेंगी । परमात्मा देह में अवस्थित होने पर भी जिस प्रकार देह-पीड़ादि द्वारा व्यथित नहीं होते, उसी प्रकार काशी आदि सभी भगवद्धाम पृथिवीमें रहने पर भी प्रापञ्चिक धर्मद्वारा लिप्त नहीं होते ।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्‌भक्ति भूदेव श्रौती महाराज

———

श्रीमद् भागवतमें माधुर्य भाव

(वर्ष १२ सं पृ. २६४ से आगे)

भागवतकी माधुर्य भावनाका मधुर रसास्वाद वीतरागी अधिकारी रसिक वैष्णव ही कर सकते हैं। यह उन्हींके मनन-श्रवण-पठनकी ही वस्तु है।

रसरास - रसिक व्रजविहारी गोपिकारमण कृष्ण शरदनिशाकी चारुचान्दनीसे परिपूरित कलिन्दनन्दिनीके कमल विभूषित मनभावक पुलिनके समीपस्थ रजतसम सुकोमल बालुके सुन्दर विशाल प्राङ्गणमें शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त समीरकी झक-झोरमें मस्त हो रहे थे। व्रजाङ्गनाएँ विहारके समय उल्लास तथा आनन्दमें तन्मय थीं, मग्न थीं।

इसमें शृङ्गारके साथ अध्यात्म भावनाका पुट है। अपूर्वता, भाव - प्रवणता और तल्लीनताका दिग्दर्शन है। श्रीकृष्ण योगशक्तिका अप्रतिभ-चमत्कार है। साक्षान्मन्मथमन्मथका सौन्दर्य-निरूपण है।

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म-
वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-
स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्।
एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-
स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः॥
तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः
केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो
विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह॥

भा. १०।३३।१६,१७,१८

रास विहारकी सुगोष्ठीमें सुगन्धिसे उन्मत्त भ्रमर गायकका कार्य कर रहे थे। श्रीकृष्ण सहित सब व्रज ललनाएँ अपने वलय, नूपुर, किङ्किणी एवं अन्यान्य वाद्योंके साथ नृत्य कर रही थीं। उस समय उनके कानोंमें स्थित कमल कुसुम, अलकावलिसे अलंकृत सुन्दर कपोल, और पसीनेकी बूंदोंसे उनके मुखमण्डलकी अपूर्व शोभा हो रही थी। नृत्यकी शीघ्रतासे उनके बिखर रहे चञ्चल केशोंसे गुँथी हुई फूलोंकी मालाएँ गिरकर पृथ्वी मण्डलकी शोभा बढ़ा रही थी।

जैसे कोई बालक अपने ही प्रतिबिम्बके साथ खेल कर रहा हो, उसी प्रकार श्रीकृष्ण स्नेह पूर्ण कटाक्ष, उदार विलास और मन्द मुसकानसे नारियोंके मनका हरण करते हुए करसे कर मिलाकर आलिङ्गन, रमण कर रहे थे।

हरिके अङ्गसङ्गसे गोपियोंको परमानन्दकी प्राप्ति हुई। वे परमानन्दमें मग्न हो गईं। उनके अङ्गोंसे फूलोंकी मालाएँ, आभूषण गिरने लगे। उन्हें वे संभाल न सकी, क्योंकि उन्हें शरीरकी

सुधिबुधि ही नहीं थी । उनके केश अलग-अलग बिखर रहे थे, वस्त्र वायुके झकोरेसे उड़े जाते थे, कंचुकी खुलकर गिर रहीं थीं ।

कृष्णकी इस प्रकारकी क्रीड़ा देखकर आकाशमें स्थित देवताओंकी स्त्रियां भी कामसे पीडित होकर मोहको प्राप्त हो गईं । तारागण सहित चन्द्रमा भी एक स्थानमें स्थित होकर लीलाका दर्शन करते रहे । वह रात्रि छः मासकी हो गई । इससे गोपियां अपने प्रियतमके साथ सुख पूर्वक विहार कर सकीं ।

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ।।

यद्यपि भगवान श्रीकृष्ण आत्मामें रमण करने वाले निःस्पृह हैं, तथापि लीलापूर्वक जितना गोपियां थीं; उतने ही रूप धारण कर भगवान्ने उनके साथ रमण किया ।

जब अति विहार करनेसे गोपियाँ थक गईं, और उनके मुख मण्डल पर पसीनेकी बूँदें छा गईं, तो उन्हें करुणा निधान कृष्णने प्रेमपूर्वक अपने कल्याणमय करोंसे पोंछ दिया ।

गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्
गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुःकृतानि
पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदः ।।

भा. १०।३३।२२

प्रियतमके नख स्पर्शसे प्रमुदित गोपियां मनोरम सुवर्णके कुण्डल और उन कुण्डलोंकी कान्तिसे अलंकृत कपोलोंकी शोभासे उत्पन्न मनोहर मन्द मुसकान प्रेमभरी चितवनसे पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्णको रिझातीं, सम्मानित करतीं उनके ही पावन चरित्रों को गाने लगीं ।

श्रीकृष्णकी जल क्रीड़ा—

ताभिर्युतः श्रममपोहितमङ्गसङ्ग
घृष्टस्रजः स कुचकुंकुमरञ्जितायाः ।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद् वाः
श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः।।

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः
प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमाना
रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ।।

ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल
प्रसूनगन्धानिल जुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो
यथा मदच्युद द्विरदः करेणुभिः ।।

एवं शशाङ्कांशुविराजितानिशाः
स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः
सर्वाः शरत्काव्य कथारसाश्रयाः ।।

भा. १०।३३।२३। से २६

जिस प्रकार गजराज अपना श्रम दूर करनेके लिये सेतु तोड़कर जलमें प्रविष्ट हो हथनियोंके साथ क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार लोक, वेदको मर्यादा अतिक्रमण करनेवाले कृष्णचन्द्रने भी श्रम-दूर करनेके लिये गजगामिनी गोपियोंके साथ जल केलिकी इच्छासे यमुनामें प्रवेश किया । अङ्गसङ्गसे

मली गई एवं गोपियोंके कुचकुंकुमसे रञ्चित बन-माला पर कुछ पुष्पोंको छोड़कर गुञ्जार करते हुए भ्रमर गन्धर्वोंके समान गान करते पीछे-पीछे चले।

जलके मध्यमें सब गोपियाँ मन्द मुसकानके साथ प्रेमपूर्वक निहारती हुईं कृष्णके ऊपर चारों ओर से जलकी बौछार करने लगीं। इस अपूर्व दृश्यको देखकर विमानोंमें बैठे देवगण फूलोंकी वर्षा कर भगवानूका सत्कार करने लगे। कृष्णचन्द्र व्रजराजने स्वयं आत्माराम होकर भी गजराजके समान लीलापूर्वक इस प्रकार जलबिहार किया।

इसके अनन्तर भ्रमरोंकी भीरसे विमण्डित गोपियोंके साथ जलसे निकलकर जलस्थानमें उत्पन्न पुष्पोंकी सुगन्धिसे सुवासित शीतलपवन जहाँ डोल रहा है, उस यमुना किनारेके निकुञ्जमें व्रजललना रूपी करिणियोंके झुण्डको साथ लिये मदमाते गजराजके समान विचरने लगे।

इस प्रकार सत्य-संकल्प व्रजराजने प्रणयिनी गोपियोंके साथ चन्द्रमाकी किरणोंसे सुशोभित एवं काव्योंमें जो शरद ऋतु सम्बन्धी रसकी बातें कही गईं हैं उनसे परिपूर्ण रात्रियोंमें भली-भाँति रमण किया।

भागवतके रासप्रसङ्ग पर मायाभिभूत होनेके कारण परीक्षित्‌को सन्देह हो गया।

और उसने शुक मुनिसे पूछा—हे मुनिवर! धर्म मर्यादाओंके निर्माता, रक्षक और उपदेशक होकर उन्होंने यह परनारीगमन रूप विरुद्ध आचरण, अधर्म क्यों किया? आप्तकाम, पूर्णकाम होकर ऐसा निन्दित कर्म क्या लोकमर्यादा और समाजके लिये हितकर है?

शुकमुनि सहसा आश्चर्यमें भरकर परीक्षित्‌के इस विवेकहीन विचारशून्य प्रश्न पर स्तम्भितसे होगये। फिर कुछ समयके पश्चात् हतमना हो कहने लगे—राजन्! पूर्ण पुरुषोत्तम योगेश्वरेश्वरके लिये किसी भी प्रकारकी शंका करना तमसावृत अज्ञानियोंका कार्य है। उसी प्रकार गोपियोंके प्रति भी परनारीकी शंका अविचारपूर्ण ही है।

महा पुरुषोंका धर्मके व्यतिक्रममें भी साहस देखा जाता है। तेजस्वी पुरुष किसी भी कार्यको कर लेनेपर भी दोषभाक् नहीं होता। जैसे "तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा" अग्नि शुद्ध, अशुद्ध सभी पदार्थोंको भस्म कर डालता है। वह फिर भी दूषित नहीं होता। किन्तु मनुष्य मनसे भी इस प्रकारके ईश्वरके आचरणोंका अनुकरण न करें। यदि वह करेगा, तो उसका विनाश अवश्यं-भावी है। शिव ने कालकूट विष पी लिया, परन्तु उनका कुछ नहीं बिगड़ा। यदि कोई असमर्थ व्यक्ति विषपान करे, तो उसकी मृत्यु हो जायगी। ईश्वरके बचनोंके अनुसार चलना चाहिये। जो लोक-वेद मानित आचरण है, उनका अनुकरण करना चाहिये, सबका नहीं।

जब आत्माराम योगियोंके लिये भी कार्य-अकार्य करने पर भी कोई विधि निषेध नहीं है, तब पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता एवं जीवोंके ईश्वर, सब ऐश्वर्योंके अधिपति, सर्वशक्तिमान साक्षात् जो परमेश्वर हैं, उनके लिये सुकृतदुष्कृतकी संभावना भी कैसे की जा सकती है?

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ।।

भा. १०।३३।३५

जिनके चरणकमल परागके सेवनसे परितृप्त भक्तजन, योगके प्रभावसे कर्मबन्धनमुक्त योगी और मुनिजन भी बन्धनको प्राप्त नहीं होते, जो स्वेच्छापूर्वक अप्राकृत वपु प्रकट किये हैं, उन स्वयं भगवान् कृष्णका बन्धन कैसे हो सकता है ?

गोपीनां तत्पतीनांच सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योऽन्तः श्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडने नेह देहभाक्।
अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।।
नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान्
व्रजौकसः ।।

भा. १०।३३।३६।३८

जो परमात्मा गोपियोंके, गोपियोंके पतियोंके एवं देहधारियोंके अन्तःकरणमें विराजमान हैं, वही बुद्धि आदि के साक्षी कृष्णचन्द्र लीला करनेके लिये पृथ्वीमें अवतरित हुए थे ।

भगवानने जिस गोलोकगत रासलीलाको प्रपञ्चमें प्रकटित किया था, उसको श्रद्धापूर्वक श्रवण कर मनुष्यदेहधारी प्राणीमात्रका ही भगवानमें दृढ़ भक्ति होती है । इस प्रकार विहार क्रीड़ा करते-करते रात्रि बीत गई। और ब्रह्म मुहूर्त आ पहुँचा। अर्थात् दो घड़ी रात्रि शेष रह गई । तब इच्छा न होने पर भी कृष्णकी आज्ञासे व्रजविभूषणकी प्यारी गोपियाँ भगवान् मुकुन्दके ध्यानमें संलग्न हुई अपने-अपने घरोंको चली गई ।

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान्
भगवत्प्रिया ।।

भा. १०।३३।३६

श्रीकृष्ण

(गतांक से आगे)

[शंकरलाल चतुर्वेदी एम. ए.]

नवल नलिन से नयन,
श्याम अति सोहत नीका ।
अरुण रेख भ्रू-लता,
देखि मघवा-धनु फीका ॥

मृग मद मसि सो बिन्दु,
इन्दु बिच लांछन मानो ।
कुण्डल लोल कपोल,
चिह्न मीनध्वज जानो ॥

वक्षस्थल हरि सा था विशाल,
शोभित थी जिस पर मंजुमाल ।
वेष्टित था जिससे हीर-हार,
गंगा यमुना की मनो धार ॥

थे पीन वरद से युगल कंध,
दृढ़शक्ति युक्त ज्यौं बाहुसंध ।
उत्तरीय फहरता बार-बार,
ज्यों लल जावै विधि-वाम-धार ॥

मनु धर्म अर्थ मय मोक्ष काम,
शोभित थे चारों कर ललाम ।
जिस पर पंकज गद-गदा चक्र,
मानो भंजक थे जग कुचक्र ॥

आजानु लने वीरत्व लिये,
राजित देवत्व नरत्व लिये ।
गज शुण्ड किधौं कदली तन वर,
अथवा साहस के थम्भ प्रवर ॥

जुग जानु जंघ मय चरण चारु,
जन-मन मधुपों के कंज-हार ।
करते हरि वंक विलोकन जब,
कंपित अहि कोल कमठ दिग् तब ॥

कामु`क सी कलिका भ्रू-विलास,
उपजाता शिव का प्रलय-लास ।
होती संसृति की सरल सृष्टि,
जब मंद हँसी करती सुवृष्टि ॥

थिर होते थे चर अचर सकल,
पाते थे इनका करुण शकल ।
वह मधुर मूर्त्ति सम्मुख निहार,
बलिहार युग्म इकबार बारा ॥

कंओ से निसृत क्षीर धार,
अथवा मीनों से मुक्त हार ।
अथवा खंजन की करुण सृष्टि,
अथवा मृगांक मृग सुधावृष्टि ॥

कर बद्ध नतानन चरण पड़े,
मानो पंकज पर चन्द्र चढ़े ।
अर्चन था प्रभु का भावपूर्ण,
हो गया युगल का भाग्य पूर्ण ॥

उच्च-आनन कर बोला—देव,
निभायी तुमने अपनी टेव ।
हुआ कृतकृत्य आज वसुदेव,
कटेंगे कष्ट कठिन कब देव ॥

क्रूर है कंस कुटिल कुत्कृत्य,
मानता परिजन को जिमि भृत्य ।
दुराचारी कर कर अभिचार,
जगत् में करता अत्याचार ॥

बना गो द्विज शिशु संहारक,
वेद-मग-बाधक खल पालक ।
उरग सा उर में विष-धारी,
कनक कादम्बिनि कलनारी ॥

टूटते पातिव्रत अविराम,
स्वसा या कन्या हो अभिराम ।
पतोहू हो अथवा भावज,
सभी दुख पाती बिन कारज ॥

अत्र होता रहता व्यभिचार,
ये ही है शासन सद् व्यवहार ।
जलाते गाँव गोठ खल चार,
लूटते धन जन-जन को मार ॥

मचा करता है हा-हा कार,
कार्त्त स्वर होती आर्त्त पुकार ।
कनक घट में ज्यों गरल दुराव,
विमल बोतल में भरी शराब ॥

सुवर्ण तन में ज्यों भरे कुभाव,
कंस कामी हो कुत्सितभाव ।
प्रजा जन भीत हुआ मुँह बन्द,
सत्य पर ऐसा है निर्बन्ध ॥

सहन करते दुःख और द्वन्द्व,
नहीं श्रुति गोचर श्रुति के छन्द ।
मख धूम नहीं जन-आह धूम,
ना उत्सव रव है आर्त्त नाद ॥

सज्जनता ना जनता प्रमाद,
सद्वाद नहीं है दुरभिवाद ।
अब गो विरक्त जन-गो प्ररक्त,
रक्तानुरक्त है गो प्रकाम ॥

गोपाल सुनी ना गो पुकार,
काटो कंटक अविराम-गाम ।
बालघ्न भीत से प्रसव भार,
जननी होना है महाभिशाप, ॥

तीनों नारी बल हुए क्षीण,
सार्थक अबला अबलाति पाप ।
नारद भावों को सत्य मान,
नृप हठी बना वह शठ दुरन्त ॥

उद्वाह-महोत्सव मधुर धार,
पीड़ा-पंकिल सर बना अन्त ।
केशाकर्षक-कर देवकजा,
कृषकों कर जैसे वाल पड़े ॥

चिर साथी आनक-दुन्दुभि में,
जड़ घनी भूत ज्यों वृक्ष खड़े ।
"मैं" भाव विभाव वाहिनी में,
क्षण भर तिरता सा मौन रहा ॥

उद्वाह प्रवाह लगा घटने,
आपत्-आवर्त्तक पौन बहा ।

श्रीचैतन्य शिक्षामृत

पञ्चमवृष्टि—तृतीय धारा (ज्ञान-विचार)

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १३, संख्या १, पृष्ठ २१ से आगे]

पाँच प्रकारका नरजीवन

नर-शरीरमें मुकुलितचेतन, विकशितचेतन और पूर्णविकशित् श्रेणियोंके बद्ध जीवोंका उल्लेख किया गया है, उनके उदाहरण अन्यन्त सहज हैं। नर-जीवनके प्रति दृष्टिपात करने पर सहज रूपमें देखे जा सकते हैं। नरजीवन पांच प्रकारके हैं—

(१) नीतिशून्य - जीवन, (२) केवल नैतिक जीवन, (३) सेश्वर - नैतिक जीवन, (४) साधनभक्त जीवन और (५) भावभक्त जीवन।

नीतिशून्य जीवन और केवलनैतिक जीवनमें ईश्वर चिन्तन या ईश्वर - विश्वास नहीं होता। सेश्वर नैतिक जीवन दो प्रकारके हैं—कल्पितसेश्वर नैतिक जीवन और वास्तवसेश्वर नैतिक जीवन। नीतिशून्य जीवन, केवल नैतिक और कल्पित सेश्वर नैतिक जीवन—इनमें मुकुलित-चेतन जीवकी स्थिति होती है। इनमें मुक्ति तक मनोवृत्ति परि-लक्षित होती है। इनमें इससे उच्चवृत्तिका कोई परिचय नहीं मिलता। इसलिये नरचेतन जिस सीमा तक समृद्धियोग्य है, उसकी तुलनामें इन तीनों अव-स्थाओंमें स्थित चेतन केवल मुकुलित हुए हैं,-प्रस्फुटित नहीं—यही सिद्धान्तित होना है। वास्तव सेश्वर नैतिक-जीवनमें चेतन पुष्पके प्रस्फुटित होने की उन्मुखता लक्षित होती है, क्योंकि उसमें ऐसा विश्वास पैदा हो जाता है कि 'सबकी सृष्टि करने वाले, सबका पालन करनेवाले, सबका नियमन करनेवाले कोई एक परम पुरुष अवश्य हैं।' परन्तु उस समय भी वह पुष्प प्रस्फुटित नहीं होता। साधन भक्तिमय जीवनमें श्रद्धा, निष्ठा, रुचि और आसक्तिरूप पँखुड़ियाँ खिलने लग जाती हैं*। पूर्णरूपमें खिल जाने पर ही भावभक्तका जीवन आरम्भ होता है। अतएव वास्तविक सेश्वर नैतिक जीवनमें साधन भक्तिमय-जीवनमें ही विकसित्त चेतन जीव परिलक्षित होते हैं। भावभक्तिमय जीवनमें पूर्णविकशितचेतन जीवको लक्ष्य किया जाता है। भावभक्ति पूर्ण होनेपर ही प्रेमभक्ति होती है। भावभक्ति कहनेसे यहाँ प्रेमभक्तिको ही समझना चाहिए। प्रेमभक्तिकी जीवन समाप्ति पर जड़ सम्बन्ध नहीं रहता। उस समय जीव बद्धमुक्त होकर शुद्धधाममें निवास करता है।

स्वधर्मानुभव

स्वधर्मानुभव अर्थात् अपने स्वधर्मका अनुभव ही शुद्धज्ञानका तृतीय प्रकरण है। स्वधर्म किसे

---

* निषेवितोऽनिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा। क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः। भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेन संगमेन च॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया। मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्त्तनाच्च मे। आर्जवेनार्यसंगेन निरहं क्रियया तथा॥
मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसं शुद्ध आशयः। पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम्॥

कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि अपना धर्म ही स्वधर्म है। प्रत्येक वस्तुका एक-एक धर्म है। वस्तु का धर्म वस्तुसे अलग नहीं होता। जीवरूप वस्तुका धर्म स्वधर्म है—प्रीति। * धर्मके ही दूसरे नाम हैं—शक्ति, गुण, प्रकृति या वृत्ति। धर्म ही तदधिष्ठित वस्तुका एकमात्र परिचय है। अग्नि क्या चीज है, इसे जाना नहीं जाता। परन्तु दग्ध करना, उत्ताप प्रदान करना और प्रकाश करना—ये अग्नि के धर्म हैं। इनके द्वारा ही अग्निरूप वस्तुका परिचय प्राप्त होता है। यदि कोई यह कहे कि धर्म या गुणके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है, तो इस विचारमें यह दोष है कि एक साधारण आधारके अतिरिक्त दो-तीन धर्म एकत्र नहीं हो सकते। जब ऐसा लक्षित हो रहा है, तब वस्तुको स्वीकार किये बिना विज्ञान या सहज ज्ञान किसी प्रकारसे सन्तोष लाभ नहीं करता। वस्तुके धर्मकी तीन अवस्थाएँ हैं—

(१) सुप्तावस्था, (२) जाग्रतावस्था, और (३) विकृतावस्था।

दियासलाई या चकमक पत्थरपर घर्षण करनेसे अग्नि प्रकाशित होती है। अग्निकी ज्योति, उत्ताप और दहन—इन तीनों शक्तिका प्रकाश होता है। साथ-ही अग्नि रूप वस्तुकी भी उपलब्धि होती है। प्रकाश होनेसे पूर्व ये धर्मसमूह सुप्तावस्थामें रहते हैं, पीछेसे जाग्रत होते हैं। जाग्रत होनेपर विषयभेदसे स्वस्थ्य विकृतरूपमें प्रकाशित होते हैं। किसी अनुपयुक्त पदार्थमें आग लगने पर वह उसे दग्ध करती रहती है आलोक नहीं देती अथवा कहीं-कहीं प्रकाश तो देती है, दग्ध नहीं करती। यहाँ आलोक-प्रदान धर्म विकृत होता है। प्रत्येक वस्तुमें एक-एक मूल धर्म रहता है, उसकी भिन्न-भिन्न वृत्तियों द्वारा क्रिया होती है। मूल-धर्म किसी एक विशेष वृत्तिका अवलम्बन करके विकृत अवस्थामें दूसरी सारी वृत्तियोंको विकृतरूपमें चलाता है। इसीको धर्म-विकृत कहते हैं। विषयके अभाव कालमें धर्म सुप्तावस्थामें रहता है। अनुकूल या योग्य विषयकी प्राप्ति होने पर धर्मकी जाग्रतावस्था होती है। अयोग्य या प्रतिकूल विषयकी प्राप्ति होने पर धर्मकी विकृतावस्था होती है। धर्मको यथार्थ रूपमें समझने करनेके लिये तीन विषयोंकी योग्यता की आवश्यकता होती है। धर्म जिस वस्तुका आश्रय ग्रहण करके स्थित होता है, उसे आश्रय कहते हैं। धर्म स्वयं वृत्तिरूप है, जिसके प्रति यह वृत्ति नियुक्त होती है, उसे विषय कहते हैं। आश्रय-योग्यता वृत्ति-योग्यता और विषय-योग्यता, इन तीनों योग्यताओंके एकत्र हुए बिना कार्य सम्पूर्ण रूपसे निष्पन्न नहीं होता। जहाँ इन तीनों योग्यताओंमेंसे किसी भी अंशमें जितना ही अभाव या दोष रह जाता है, वहाँ वह कार्य उतना ही दोषपूर्ण रह जाता है। विषय, आश्रय और वृत्तिका ऐसा सम्बन्ध पारस्परिक पवित्रता द्वारा परस्पर उन्नत होता है। वृत्तिकी विशुद्ध आलोचनासे आश्रयकी शुद्धि और उन्नति होती है। आश्रय विशुद्ध होनेसे वृत्तिकी विशुद्धता स्वाभाविक है। विषय विशुद्ध होनेपर वृत्तिकी शुद्धालोचनासे आश्रयकी पुष्टि और तुष्टि होती है। अतएव विषय, आश्रय और वृत्ति या धर्म ये अन्योन्यापेक्षी अर्थात् एक-दूसरेके सापेक्ष होते हैं।

(क्रमशः)

* यथा भ्राम्यतायो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ। तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया॥ (भा. ७।५।१४)

श्रीमद्भागवत के पात्रों की अनुक्रमणिका

[आचार्य वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी एम. ए. सा० रत्न]

अर्जुन—१०।६८।२८, १०।७२।२८, १०।७२।१६, १७, २६, ३२; १०।७३।२४, १०।७९।२४, १०।८६।२, ८; १०।८९।२६, ३२, ३५, ४१, ४६, ६५; ११।१६।६, ३५; १०।३०।४८, ११।३१।२१, २२, २६।

अर्जुन (कार्त्तवीर्य)—९।१५।१७, ३३; ९।१६।९

अर्जुनपाल—९।२४।४४

अर्थ—४।१।५०

अर्थसिद्धि—६।६।७

अर्यमा—५।१८।२९; ६।६।३९, ४२; ११।१६।१५

अर्हत—५।६।९

अलम्बुषा—९।२।३१

अलर्क—१।३।११; ९।१७।६, ७, ८;

अविद्योत—९।२४।२०

अविरोधन—५।१५।१४

अविक्षित्—९।२।२६

अव्यय (कृष्ण)—१०।६४।२७, १०।६८।४८

अंश—१०।२२।३१

अंशुमान—९।८।१४, १९, २७, ३०; ९।९।१

अशना—६।१८।१७

अशोकवर्द्धन—१२।१।१२

अश्मक—९।९।४०

अश्वतर (सर्प)—५।२५।३१

अश्वत्थामा—१।१२।१

अश्वमेधज—९।२२।३९

अश्वसेन—१०।६१।१३

अश्विन—८।१०।३०

अश्विनी—६।३।१६, २४, २६;

अश्विनी (कुमार)—३।६।१४, ४।७।५, ८।१३।१०, ११।६।२

अश्विनौ—५।२३।७

अष्टक—९।१६।३६

असमञ्जसा—९।८।१४, १५

असित—६।४।२२, १०।७४।७, १०।८४।३, १०।८६।१८, ११।१।१२, ११।१६।२८

असिक्ना—६।४।५१, ६।६।१

असीम कृष्ण—९।२२।३९

अस्ति—१०।५०।१

अहंयाति—९।२०।३

अहल्या—९।२१।३४

अहिब्रध्न—६।६।१८

अहीन्द्र—६।८।१८

अहीश्वर—९।२४।५४

आ

आकाश गङ्गा—५।२३।५

आकृति—१।३।१२, २।७।२, ३।१२।५५, ५६; ४।१।१,२; ४।१३।१५, ५।१५।६, ८।१।५

आग्नीध्र—५।१।२५, ३३; ५।२।१, १९, २१, २२; ५।३।१७, ११।२।१५

आङ्गिरस—१।६।८, १।१८।३६, ६।७।६, ६।१४।८,१०; १२।७।४
आङ्गिरसी—६।६।१५
आजगर—७।१३।११
आजीगर्त—९।१६।३०
आज्यप—४।१।६२
आतप—६।६।१६
आत्मभू—४।६।४१, ४।७।२४, ७।३।१४, १०।१३।४०, ४३।
आत्मयोनि—४।६।४०, ५।१।७, ५।१६।२८, ५।२०।३६, ७।६।३५, ११।१४।१५
आत्मा—५।२०।२१
आदित्य—१।१४।१२, ५।१६।१, ५।२१।८, १४; ५।२२।१, ५।२३।७, ६।३।१४, ६।७।२, ६।१८।६९, ११।६।२, ११।१६।१३, १२।६।६७
आदिपुरुष (संकर्षण)—६।१६।३१, ६।१८।६६
आदिभव (ब्रह्मा)—७।३।२२
आदिराज—४।२२।४८
आदिशूकर—३।१८।२१, ३।१६।१६, ३१; ४।१७।३४
आनक—६।२४।२८, ४४।
आनक दुन्दुभी—९।२४।३०, ४५, ५०; १०।१।४७, ५७, ६१; १०।२।१६, ३।११, ६।३२, ८।८, ३६।२२, ३०; ३८।६, ४२; ४१।४०, ५५।३५, ५६।३४, ६२।१८, ७७।२७; १०।८४।३४, ६५।
आनर्त—९।३।२७
आम—१०।६१।१३
आयति—९।१८।१
आयती—४।१।४३
आयु—६।६।१२, ६।१५।१, ६।१७।१, ६।२४।६, १०।६१।१७
आयु (ऋषि)—१२।११।४२
आयुष्मान—८।१३।२०
आरब्ध—९।२३।१५
आरुणि—६।१५।१३
आर्यक—८।१३।२६
आर्षभ—५।१४।४२
आष्टिषेण—१।१६।१०, ५।१६।२
आवन्त्य—१२।६।७७, ७८, ८०;
आवरण—५।७।२
आविर्होत्र—५।४।११, ११।२।२१, ११।३।४३
आशी—६।१८।२
आशुतोष—१०।७६।१५
आसङ्ग—९।२४।१६
आसारन (यक्ष)—१२।११।३८
आसुरि—१।३।१०, ६।१५।१४, ६।४।५७, १०।७४।६
आसुरी—५।१५।३
आहुक—९।२४।२१, १०।८२।५, १०।६०।४२, ११।१।२१
आहुकी—९।२४।२१